भविष्य के महानायक या 'एक असम्भव सम्भावना'?

आलोक टण्डन

गाँधी एक अर्थ में अनूठे हैं भारत के इतिहास में। भारत के विचारशील व्यक्ति ने कभी भी समाज, राजनीति और जीवन के संबंध में सीधी कोई रुचि नहीं ली है। भारत का महापुरुष सदा से पलायनवादी रहा है। उसने पीठ कर ली है समाज की तरफ़। उसने मोक्ष की खोज की है, समाधि की खोज की है, सत्य की खोज की है, लेकिन समाज और इस जीवन का भी कोई मूल्य है यह उसने कभी स्वीकार नहीं किया। गाँधी पहले हिम्मतवर आदमी थे जिन्होंने समाज की तरफ़ से मुँह नहीं मोड़ा। वह समाज के बीच खड़े रहे और ज़िंदगी के साथ और ज़िंदगी को उठाने की कोशिश उन्होंने की। यह पहला आदमी था जो जीवन-विरोधी नहीं था, जिसका जीवन के प्रति स्वीकार का भाव था।

आचार्य रजनीश,
देख कबीरा रोया
(इसी पुस्तक से उद्धृत, पृ. 68-69)

गाँधी के बारे में, उनके विचारों से गहरा मतभेद रखने वाले आचार्य रजनीश का उपरोक्त कथन भले ही कुछ लोगों को अतिशयोक्तिपूर्ण लगे, लेकिन भारतीय परम्परा के इतिहास में वह गाँधी के अति महत्त्वपूर्ण अवदान को दृढ़ता से स्थापित करता है। समीक्ष्य कृति के लेखक सरोज कुमार वर्मा गाँधी और रजनीश, दोनों के गम्भीर अध्येता हैं। उन्होंने और भी आगे बढ़ कर, गाँधी को भविष्य का महानायक घोषित किया है। गाँधी की डेढ़ सौवीं वर्षगाँठ मनाने के

क्रम में उनके विचारों की प्रासंगिकता को लेकर जो विपुल साहित्य सामने आया है, उसमें कई तरह के बड़े-बड़े दावे किये जा रहे हैं। यह पुस्तक उसी की एक कड़ी है। अच्छी बात यह है कि लेखक ने पुस्तक की भूमिका में प्रासंगिकता के मूल्यांकन का जो पैमाना निर्धारित किया है, वह क़ाबिले तारीफ़ है और उसे उन्होंने गाँधी के विचारों पर ईमानदारी से लागू करने का प्रयास किया है। उनके इस कथन से शायद ही कोई असहमत हो कि 'अतीत का कोई भी विचार चाहे वह अपने वक़्त के कितने भी अंतर्विरोधों को दूर करने में सक्षम रहा हो, यदि वर्तमान की जटिलताओं को सुलझा पाने में समर्थ नहीं है, तो आज के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकता।' (पृ. 9) गाँधी-विचार इस चुनौती पर कैसे खरा उतरता है, यही समीक्ष्य पुस्तक का केंद्रीय विषय है जो किसी भी पाठक के मन में जिज्ञासा जगाने के लिए काफ़ी है। देखना यह है कि 'गाँधी को भविष्य के महानायक' के रूप में स्थापित करने में लेखक का प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है।

गाँधी : भविष्य का महानायक (2020)
डॉ. सरोज कुमार वर्मा
अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली,
पृष्ठ 152, मूल्य 450 रुपये.

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में गाँधी के नेतृत्व की सफलता एक ऐसा तथ्य है जिससे उनके विरोधी भी असहमत नहीं होंगे, किंतु इक्कीसवीं सदी और भविष्य की शताब्दियों में उनके विचारों की प्रासंगिकता पर कई सवाल खड़े किये जाते रहे हैं। ऐसे में यह उचित ही है कि लेखक, स्वतंत्रता आंदोलन में गाँधी की सफलता की चर्चा से हटकर अपना ध्यान उनके विचारों की बीज पुस्तक *हिंद स्वराज* पर केंद्रित करे और यह देखने का प्रयास करे कि इक्कीसवीं सदी की चुनौतियों के संदर्भ में इस कृति का क्या महत्त्व हो सकता है। यह अच्छी बात है कि लेखक ने यही दृष्टिकोण अपनाया है जिससे वे बहुतेरी अनावश्यक चर्चा से बच गये हैं। योजना के अनुरूप पुस्तक दो खण्डों में बँटी है। पहले खण्ड के चार आलेखों में गाँधी के विचारों की आधुनिक सभ्यता, भूमण्डलीकरण, पर्यावरण-संकट और मानवाधिकारों के प्रसंग में विवेचना की गयी है। निश्चित रूप से यह विवेचना अधूरी ही रह जाती यदि गाँधी के विचारों की तुलना हम प्राचीन/अर्वाचीन भारतीय विचारकों के साथ न करते। इसलिए पुस्तक के दूसरे तुलनात्मक खण्ड में लेखक ने गाँधी के विचारों की तुलना क्रमशः महावीर, विवेकानंद, रवींद्रनाथ और श्री अरविंद के विचारों से करने का प्रयास किया है। अलग-अलग समय पर लिखे गये इन लेखों में कहीं-कहीं दुहराव स्वाभाविक है किंतु लेखक की कार्य-योजना एकदम स्पष्ट है और इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

हिंद स्वराज गाँधी-दृष्टि की बीज-पुस्तक है जिसमें उनके केंद्रीय विचार संकलित हैं। ऐसा अधिकतर विद्वानों का मानना है क्योंकि प्रकाशन के 35 वर्ष बाद भी गाँधी ने उसमें कोई परिवर्तन करने से इंकार कर दिया था। इसीलिए लेखक ने अपनी पुस्तक का प्रथम और सबसे बड़ा लेख *हिंद स्वराज* के सभ्यता-दर्शन पर केंद्रित किया है। *हिंद स्वराज* लिखे जाने के ऐतिहासिक संदर्भ से हम सभी परिचित हैं कि यह भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हिंसक विचारधारा के जवाब के रूप में लिखी गयी थी, किंतु कम ही लोगों को यह ज्ञात होगा कि गाँधी ने इसे अपने मित्र डॉ. प्राणलाल मेहता के लिए लिखा था, जिनके साथ वे एक महीना रहे थे। सम्भवतः इसीलिए, लेखक के मतानुसार, इसे पाठक-सम्पादक-संवाद के रूप में लिखा गया है। लेकिन एक ऐसी पुस्तक जिसे गाँधी के

राजनीतिक गुरु गोखले ने विचारों में कच्चा और अनगढ़ कह कर निरस्त कर दिया था। लेकिन, ऐसी क्या ख़ास बात है कि वह आज भी चर्चा का विषय बनी हुई है? गाँधी की माने तो 'यह द्वेषधर्म की जगह प्रेमधर्म सिखाती है, हिंसा की जगह आत्म बलिदान को रखती है, पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्मबल को खड़ा करती है।' (पृ. 17) किंतु यह बात अधूरी है। वास्तव में, *हिंद स्वराज* की जनप्रिय-सफलता के पीछे, जैसा कि लेखक ने भी माना है, आधुनिक सभ्यता की सख़्त आलोचना है जिसके मूल में गाँधी का सभ्यता-संबंधी चिंतन है। *हिंद स्वराज* पर पिछले एक दशक में जो विपुल साहित्य सामने आया है, उससे सुविज्ञ पाठक परिचित हैं, लेखक ने उसे अपनी सहज-सरल भाषा में प्रस्तुत करके सामान्य जन के लिए और सुगम बना दिया है। देखना यह होगा कि क्या वे गाँधी के तर्क को आज की चुनौतियों के सामने अधिक प्रासंगिक बना सके हैं?

गाँधी से पहले और बाद में, आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करने वाले अनेक विचारक रहे हैं। सवाल उठता है कि गाँधी की आलोचना और उनके समाधान इन विचारकों की आलोचना से किस तरह भिन्न है? निश्चय ही गाँधी के पास हज़ारों साल पुरानी सभ्यता का संस्कार और औपनिवेशिक दासता का अनुभव है जो औरों के पास नहीं है। ध्यातव्य है कि गाँधी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता, जिसे वे 'शैतानी सभ्यता' मानते हैं, की आलोचना एक विशिष्ट नैतिक दृष्टिकोण के आधार पर करते हैं जिसकी जड़ें उनके 'सभ्यता दर्शन' में हैं। उनके अनुसार, 'सभ्यता वह आचरण है जिसमें आदमी अपना फ़र्ज़ अदा करता है। फ़र्ज़ अदा करने का मानी है नीति का पालन करना। नीति के पालन का मतलब है मन और इंद्रियों को बस में रखना। ऐसा करते हुए हम अपने को पहचानते हैं। यही सभ्यता है।' (पृ. 30) इनके विपरीत, आधुनिक सभ्यता की पहचान यह है कि 'लोग बाहरी (दुनिया) की खोजों में और शरीर के सुख में धन्यता और पुरुषार्थ मानते हैं।' (पृ. 18)। गाँधी की बात को बल प्रदान करने के लिए लेखक ने पश्चिम के दार्शनिकों, जैसे एरिस्टीपस, एपिक्यूरस, बेंथम, मिल, स्पेंसर आदि के सुखवादी सिद्धांतों को पश्चिमी सभ्यता का आधार प्रदान करने वाला बताया है। ऐसे में कई तरह के सवाल मन में उठते हैं। क्या गाँधी के सभ्यता-दर्शन के अनुरूप कोई सभ्यता भारत में कभी ऐतिहासिक रूप से यथार्थतः रही है या फिर यह गाँधी की अपनी आदर्श अवधारणा मात्र है? यदि यह भारतीय सभ्यता का आदर्श मान भी लिया जाए तो इसकी तुलना पश्चिम के आदर्श से की जानी चाहिए, न कि उनके यथार्थ से, जबकि गाँधी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके आदर्श की तुलना में भारतीय यथार्थ भी खरा नहीं उतरता। यदि नैतिकता के प्राचीन दृष्टिकोणों की तुलना की जाए तो हम पश्चिमी सभ्यता के सर्वकालिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों— सुकरात, अरस्तू और प्लेटो आदि विचारकों को कैसे छोड़ सकते हैं जिनका नैतिक दृष्टिकोण सुखवादी तो नहीं कहा जा सकता। क्या यह विसंगति उस हीनता का परिणाम तो नहीं जिससे हमारा पूर्व-औपनिवेशिक समाज ग्रस्त रहता था और अपने को औपनिवेशिक आक्रांताओं से श्रेष्ठ सिद्ध करने के चक्कर में अपने काल्पनिक श्रेष्ठ अतीत की तुलना पश्चिम के निकृष्ट यथार्थ से करने में अपने को धन्य समझता था। हमें आदर्श की आदर्श से और यथार्थ की यथार्थ से तुलना करनी चाहिए। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अद्वैत वेदांत भारत का सिरमौर दार्शनिक सिद्धांत भले ही हो, सामान्य जन-जीवन को नैतिकता सिखाने में ऐतिहासिक दृष्टि से, अपनी पलायनवादी मोक्ष-कामना के कारण, अक्षम ही साबित हुआ है।

उपरोक्त टिप्पणी का तात्पर्य यह नहीं है कि गाँधी की नैतिक दृष्टि से आधुनिक सभ्यता की आलोचना एकदम ख़ारिज कर देनी चाहिए, अपितु हमें उनके मानदण्डों को भारत और पश्चिम— दोनों पर समान रूप से लागू करना चाहिए। साथ ही यह भी देखना होगा कि क्या ये मानदण्ड आधुनिक समय के अनुरूप हैं और उसकी चुनौतियों का सामना करने में हमें सक्षम बना सकते हैं? जिस सीधी-सादी अहिंसक, भोगविहीन, आध्यात्मिक जीवन शैली की वकालत गाँधी करते हैं, एक पूर्व-औद्योगिक समाज की विवशता हो सकती है किंतु क्या वह एक औद्योगिक समाज के भी अनुकूल

है ? क्या आज का मनुष्य उन सभी सुविधाओं को छोड़ने को तैयार होगा जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी की उपलब्धियों के रूप में हमारे जीवन का अंग बन चुकी हैं ? आज भौतिक प्रगति को त्याग कर आध्यात्मिक मोक्ष का मार्ग अपनाने वाले कितने हैं ? गाँधी की बात तो उनके शिष्यों, नेहरू-पटेल ने भी नहीं मानी। आज तो बचे गाँधीवादियों में भी पस्ती का आलम है। वे गाँधी जैसा कोई रचनात्मक प्रयोग कर सकने की शक्ति और योग्यता नहीं रखते। गाँधी द्वारा आधुनिक समाज के संकट का सुझाया गया हल, लेखक की नज़र में, चाहे कितना भी प्रासंगिक क्यों न हो, उसकी व्यावहारिकता का सवाल तो उठेगा ही। आधुनिकता ने जिस नैतिक शून्य का जन्म दिया है, उसमें हमारी नैतिक चेतना और साहस कुंद हो गया है। जब तक हम भीतर सोई इस चेतना को जगा नहीं पाते, गाँधी एक 'असम्भव सम्भावना' ही बने रहेंगे।

लेखक को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने 'यंत्र-विरोध को लेकर गाँधी के बारे में फैली भ्रांति का सफलतापूर्वक निराकरण किया है। गाँधी का विरोध यंत्र मात्र का विरोध नहीं है बल्कि वे उसके उपयोग के पीछे छिपी लोभ की प्रेरणा के विरोधी हैं। उनके अनुसार यंत्र श्रम की बचत के लिए होने चाहिए, लोगों को बेरोज़गार करने के लिए नहीं और इसका लाभ समाज के कुछ लोगों तक ही सीमित नहीं होना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में, 'मेरा उद्देश्य तमाम यंत्रों का नाश करने का नहीं है, बल्कि उनकी हद बाँधने का है।' (पृ. 26) इसीलिए गाँधी सिलाई की मशीन जैसे छोटे यंत्र को तो स्वीकार करते हैं जिसमें श्रम की बचत होती है, किंतु किसी भी बड़े यंत्र को स्वीकार नहीं करते, जिससे मनुष्य बेकार हो जाता है। गाँधी-विचार के प्रभाव से कुटीर उद्योगों के लिए मध्यम दर्जे की प्रौद्योगिकी अपनाने के कुछ प्रयोग अवश्य किये गये किंतु वे ज़्यादा दिन उन्नत प्रौद्योगिकी के आगे टिक नहीं सके। लेखक को इस पर भी विचार करना चाहिए था कि आज जब भूमण्डलीकृत पूँजीवाद अपनी ताक़त से विश्व के सारे बाज़ारों पर क़ाबिज़ हो रहा है तो गाँधी द्वारा सुझाए गये छोटे यंत्र उत्पादन की इस विशाल प्रणाली के आगे कैसे टिक पाएँगे।

हिंद स्वराज के अपने विवेचन में लेखक ने धर्म को बहुत महत्त्व प्रदान किया है। लेखक के अनुसार, चूँकि भारतीय सभ्यता का मूल-तत्त्व नीति है और नीति धर्म से आती है, अतः गाँधी के सभ्यता-दर्शन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म से च्युत हो जाना ही हिंदुस्तान के पतन का मुख्य कारण है। निश्चय ही गाँधी यहाँ विभिन्न संस्थागत धर्मों— हिंदू, मुस्लिम, सिख और ईसाई आदि की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे इन सभी धर्मों के भीतर जो 'धर्म का मर्म' है, उसकी चर्चा कर रहे हैं। धर्म के इन सार्वभौम, सर्वकालिक दार्शनिक प्रत्ययों से हम सभी परिचित हैं, किंतु यथार्थ में वह कहीं उपलब्ध नहीं हो सका है। इसलिए जब

> क्या गाँधी के सभ्यता-दर्शन के अनुरूप कोई सभ्यता भारत में कभी ऐतिहासिक रूप से यथार्थतः रही है या फिर यह गाँधी की अपनी आदर्श अवधारणा मात्र है ? यदि इसे भारतीय सभ्यता का आदर्श मान भी लिया जाए तो इसकी तुलना पश्चिम के आदर्श से की जानी चाहिए, न कि उनके यथार्थ से, जबकि गाँधी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके आदर्श की तुलना में भारतीय यथार्थ भी खरा नहीं उतरता। यदि नैतिकता के प्राचीन दृष्टिकोणों की तुलना की जाए तो हम पश्चिमी सभ्यता के सर्वकालिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों— सुकरात, अरस्तू और प्लेटो आदि विचारकों को कैसे छोड़ सकते हैं जिनका नैतिक दृष्टिकोण सुखवादी तो नहीं कहा जा सकता।

आगे बढ़ कर लेखक यह स्थापना करते हैं कि 'पश्चिम का धर्म संस्था और संगठन से जुड़े होने के कारण भले ही रोग और नशा हो लेकिन भारत का धर्म ऐसा नहीं है। यहाँ तो धर्म आध्यात्मिकता का पर्याय है। नैतिकता का उत्स है। सदाचार का आधार है और जीवन का लक्ष्य है।' (पृ. 43) तो बात गले नहीं उतरती। गाँधी भले ही ऐसे ही धर्म की स्थापना करना चाहते हों, किंतु उनकी शहादत इस बात का प्रमाण है कि वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच हिंसक संघर्ष आज की वैश्विक हक़ीक़त है और कोई भी अपनी धार्मिक पहचान/समुदाय को सार्वभौम धर्म के नाम पर छोड़ने को तैयार नहीं है। इस संदर्भ में गाँधी-विचार की प्रासंगिकता पर भी लेखक को विचार करना चाहिए था। अगर लेखक गाँधी की धर्मयुक्त राजनीति को आज की धर्म आधारित राजनीति के बरअक्स रख कर विचार करते तो शायद धर्मनिरपेक्षता को इतना अप्रासंगिक क़रार नहीं देते। जाति और धर्म के बारे में गाँधी के विचारों में जो उत्तरोत्तर विकास दिखाई देता है, उसे समझे बिना केवल *हिंद स्वराज* के आधार पर उनको प्रासंगिक क़रार देना सैद्धांतिक ज़्यादा और व्यावहारिक कम दिखता है।

पुस्तक की भूमिका में किये गये अपने वायदे के अनुरूप लेखक ने पुस्तक के अगले तीन अध्यायों में गाँधी-विचार को क्रमशः भूमण्डलीकरण, पर्यावरण-संकट और मानवाधिकारों के संरक्षण के संदर्भ में जाँचने-परखने का कार्य किया है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि 'सर्वोदय गाँधी के तरकश में वह तीर है, जिससे भूमण्डलीकरण के चक्रव्यूह को भेदा जा सकता है।' (पृ. 47) उनकी दृष्टि में भूमण्डलीकरण शुद्ध रूप से एक आर्थिक परियोजना है जिसके मूल में पूँजीवाद है और जो अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए सारी दुनिया को एक करना चाहता है। इस सपने को साकार करने हेतु बनाई गयी तीनों संस्थाओं— विश्व व्यापार संगठन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक पर अमेरिका का वर्चस्व है जो अपने और धनी देशों के आर्थिक हितों के लिए उनका संचालन करता है। यह विकास की ऐसी अवधारणा पर आधारित है जो प्राकृतिक संसाधनों के अधिकतम दोहन से उपभोक्ता संस्कृति को बढ़ाने वाली है और भारत जैसे विकासशील देशों को शोषण के मकड़जाल में फँसाने वाली है। लेखक के अनुसार, गाँधी की सर्वोदय की अवधारणा एक विकल्प है। सर्वोदय का लक्ष्य एक ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन और शोषणविहीन समाज का निर्माण करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन और अवसर मिल सके। यह सत्य और अहिंसा द्वारा ही सम्भव है। लेखक के अनुसार, सर्वोदय का भवन उपयोगितावाद के स्थान पर अद्वैतवाद की नींव पर खड़ा होता है। उनके अनुसार, गाँधी यद्यपि तकनीकी अर्थ में अद्वैतवादी नहीं हैं, किंतु ईश्वर को एकमात्र सत्य और सारे संसार को उसकी अभिव्यक्ति मानने के कारण गाँधी का सर्वोदय भी अद्वैत वेदांत की मूल भावना के अनुरूप है।

लेकिन इधर, गाँधी के विचारों को अद्वैत वेदांत के एक परिवर्धित संस्करण बताने की मुहिम-सी चल पड़ी है जो गाँधी के जीवन और विचारों पर पड़े अन्य प्रभावों (टॉलस्टॉय, रस्किन, थोरो आदि) को कम करके आँकती है, और गाँधी को सनातन भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधि साबित करने की फ़िराक़ में रहती है। लगता है लेखक भी कहीं इसी मोह का शिकार है। दर्शन के विद्यार्थी जानते हैं कि अद्वैत वेदांत में नैतिकता गौण है और मोक्ष की साधना प्रमुख। यह सही है कि अद्वैत आध्यात्मिकता के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर 'स्व:' और 'पर' का भेद मिट जाता है अतः किसी प्रकार की हिंसा या शोषण की सम्भावना समाप्त हो जाती है। किंतु यह केवल आत्म साक्षात्कार पाए संतों के लिए सम्भव है, सामान्य मनुष्य के लिए नहीं। तभी हज़ारों वर्षों में अद्वैत की साधना के बावजूद केवल कुछ ही संतत्व को प्राप्त हो सके और हमारा व्यापक समाज जाति व्यवस्था जैसी शोषणपूर्ण व्यवस्था से छुटकारा नहीं पा सका। अतः अद्वैतवादी नैतिकता पर शंका उठना स्वाभाविक है और इस आधार पर सर्वोदय की परियोजना के खटाई में पड़ जाने की पूरी सम्भावना है। फिर सवाल यह भी है कि जो सर्वोदय,

देशी पूँजीवाद के सामने न टिक सका वह भूमण्डलीकृत पूँजीवाद से कैसे टक्कर ले सकेगा? सर्वोदय को व्यवहार में लाने के जो दो रास्ते, गाँधी के अनुसार, लेखक ने बताए हैं— विकेंद्रीकरण और यंत्रों का बहिष्कार, उन दोनों के अपनाए जाने की सम्भावना अधिकाधिक केंद्रीकृत होती अधिनायकवादी व्यवस्थाओं में अत्यंत निम्न है। बुलेट ट्रेन दौड़ाने का सपना सजाने वाली सरकारों के लिए गाँधी सिर्फ़ स्वच्छता अभियान के विज्ञापन मात्र हैं, नयी समाज व्यवस्था निर्माण के लिए नहीं।

इधर के वर्षों में विश्व में गहराते पर्यावरण संकट के समाधान के लिए गाँधी-दृष्टि को अपनाए जाने की वकालत देशी-विदेशी चिंतकों द्वारा की जाती रही है। इस आधार पर 'गहन पारिस्थितिकी' या डीप इकॉलॅजी का एक स्कूल भी विकसित हो गया है। इसमें नार्वे के दार्शनिक अर्नेनीस का नाम प्रमुख है जो स्वयं गाँधी से प्रभावित हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की इस बात से दूर तक सहमत हुआ जा सकता है कि पर्यावरण संकट के 'मूल में विकास की आधुनिक अवधारणा है, जिसमें भौतिक विकास को ही विकास का एकमात्र पैमाना मान लिया गया है।' (पृ. 71) इस अवधारणा ने एक ऐसी उपभोक्तावादी जीवन शैली को जन्म दिया है जो अनिवार्य रूप से पर्यावरण-विनाश की ओर ले जाती है। किंतु, इसके लिए लेखक द्वारा विज्ञान को दोषी क़रार देना असंगत प्रतीत होता है। एक तो यह दृष्टि मूलभूत विज्ञान और प्रौद्योगिकी में अंतर नहीं करती और दूसरे, वह यह भूल जाती है कि मूलभूत विज्ञान सार्वभौम है लेकिन उसके ज्ञान के इस्तेमाल से बनाई गयी प्रौद्योगिकी भिन्न-भिन्न हो सकती है। अब यह इस पर निर्भर है कि वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग कौन किस उद्देश्य के लिए कर रहा है। अपना वर्चस्व क़ायम करने के लिए दुनिया के शक्तिशाली राष्ट्रों और बाज़ार पर आधिपत्य बना कर अधिकाधिक मुनाफ़ा कमाने वाली पूँजीवादी सत्ता ने विज्ञान की मुक्ति की भी सम्भावना को बंदी बना लिया है। अत: ज़रूरत विज्ञान का विरोधी होने की नहीं, बल्कि उसके सार्थक, जीवनोपयोगी उपयोग को वरीयता देने की है। यह सच है कि इसके लिए प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध शोषण करने वाली पूँजीवादी विकास की अवधारणा को परिवर्तित करना होगा, किंतु इस संबंध में एक विचारणीय विषय यह है कि यह परिवर्तन ग्राम्य जीवन की सीधी-सादी जीवनशैली पर आधारित होगा या उपभोक्ता संस्कृति के विपरीत सार्थक जीवन की नयी वैकल्पिक संस्कृति पर आधारित होगा जिसमें मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य अधिकाधिक धन प्राप्ति का न होकर मानवीय उत्कृष्टता के प्रस्फुटन का हो। अभी तो समस्या यह है कि अमेरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों को अपने कार्बन उत्सर्जन की मात्रा कम करने के लिए सहमत किया जा सके। निश्चय ही इसके लिए विश्वव्यापी अभियान चलाने की ज़रूरत है। हमें याद रखना चाहिए कि गाँधी सैद्धांतिक विज्ञान के विरोधी नहीं थे, और भले ही पर्यावरण-संकट पर उन्होंने सीधे-सीधे कुछ न कहा हो, किंतु उनकी अंतर्दृष्टि अतिशय भोगवादी जीवन शैली पर रोक तो लगाती ही है।

निश्चय ही, दूसरे की हिंसा का अहिंसक प्रतिरोध करने के लिए सत्याग्रह का अभिनव प्रयोग गाँधी की विश्व को एक अमूल्य देन है। लेकिन, बीसवीं सदी में अन्याय के विरुद्ध चलाए गये आंदोलनों की आंशिक सफलता से इसकी प्रासंगिकता असंदिग्ध है क्योंकि हिंसक आंदोलनों का राज्य की बढ़ती शक्ति के सामने कोई भविष्य नज़र नहीं आता। अनेक परम्परावादियों के विपरीत लेखक का यह कथन कि 'तकनीकी रूप में सत्याग्रह की कोई चर्चा, गाँधी के पूर्व, इतिहास में नहीं मिलती', (पृ. 89), इस बात से पर्दा गिरा देने के लिए काफ़ी है जो यह मानती है कि गाँधी केवल भारतीय सनातन दृष्टि के ही प्रतिनिधि मात्र हैं— न उन पर कोई विदेशी प्रभाव है और न कोई सृजनशीलता। यह निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न, सत्य और प्रेम पर आधारित आत्मिक शक्ति को शारीरिक शक्ति से श्रेष्ठ मानने वाली अहिंसक प्रविधि है। अत: लेखक के इस निर्णय से लगभग सभी को सहमत होने में कोई एतराज नहीं होगा कि पूरी तरह न सही, सत्याग्रह 'मानवाधिकारों, के मात्रात्मक संरक्षण की प्रविधि है' (पृ. 86) और उनके संरक्षण के लिए इसका प्रयोग किया जाना चाहिए, भले ही इसमें अभी तक आंशिक सफलता मिली हो और सभी देश, काल, परिस्थिति में सभी प्रकार के मानवाधिकारों की सुरक्षा इसमें सम्भव न हो।

समीक्ष्य पुस्तक की विशेषता न केवल इसमें है कि यह गाँधी-विचार का परीक्षण वर्तमान की चुनौतियों के संदर्भ में करने का प्रयास करती है, बल्कि एक पूरे तुलनात्मक खण्ड में उन विचारों की तुलना पूर्ववर्ती भारतीय विचारकों— महावीर, विवेकानंद, रवींद्रनाथ और अरविंद के विचारों के साथ भी करती है। लेखक की एक बात को सभी मानेंगे कि हिंसा-अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन जैन दर्शन में किया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं। लेकिन गाँधी की अहिंसा उससे प्रभावित होते हुए भी भिन्न है। गाँधी से पहले अहिंसा वैयक्तिक मोक्ष/कैवल्य की प्राप्ति की साधना थी, गाँधी ने इसका सार्वजनिक जीवन में प्रयोग करने का प्रयास किया। गाँधी की समस्या यह थी कि दूसरे की हिंसा का प्रतिरोध अहिंसक ढंग से कैसे किया जाए। क्या अहिंसा की समझ और उसकी उद्देश्यगत भिन्नता को लेकर महावीर और गाँधी में कोई अंतर नहीं है ? महावीर की अहिंसा, अक्रिय अहिंसा है जो साधना से प्राप्त वीतरागिता का परिणाम है, जबकि गाँधी की अहिंसा, सक्रिय प्रेम पर आधारित है, तभी वह सबके साथ सक्रिय प्रतिरोध का हथियार बन पाती है। अहिंसा का यह विस्तार, गाँधी में, ईसाई धर्म और टॉलस्टॉय के प्रभाव से आया है, जिसे भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता के पैरोकार स्वीकार करने में हिचकते हैं और यही चूक इस पुस्तक के लेखक से भी हुई है। यह सक्रिय अहिंसा केवल आत्मबोध और ध्यान से सम्भव नहीं है। इसके लिए अन्याय के विरुद्ध संघर्ष की एक गहरी नैतिक चेतना, साहस और प्रतिबद्धता भी चाहिए जो गाँधी की अमूल्य थाती है और जो उन्हें आने वाली सदियों तक महानायक बनाए रखने की सम्भावना जगाती है।

हमारे यहाँ बहुतेरे लोग शिकागो की धर्म सभा में स्वामी विवेकानंद द्वारा दिये गये भाषण से इतने मोहग्रस्त हैं कि उसे भौतिकवाद में डूबे पश्चिम के लिए भारतीय धर्म-आध्यात्मिकता का शाश्वत संदेश मान बैठे हैं। वे भूल जाते हैं कि विवेकानंद का मूल उद्देश्य यह नहीं था। वे तो वेदांत की शिक्षा देकर भारत को निर्धनता से उबारने के लिए धन जुटाना चाहते थे। इसमें, अपनी दो यात्राओं के बावजूद उन्हें सीमित सफलता ही मिली और उनका आंशिक रूप से मोहभंग भी हुआ। लेखक इस तथ्य से अवगत हैं, फिर भी वे विवेकानंद पर गाँधी के मुक़ाबले आधुनिक सभ्यता का अधिक प्रभाव स्वीकारते हैं और इसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि, 'कदाचित इसी प्रभाव के कारण विवेकानंद धर्म और विज्ञान के समन्वय तथा पूरब और पश्चिम के मिलन की बात भी करते रहे, जो कि वैचारिक स्तर पर संगत होने के बावजूद व्यावहारिक स्तर पर कभी सफल नहीं हो पायी। इस समन्वय और मिलन का कुल हश्र इतना हुआ कि पूरब पर पश्चिम का आधिपत्य हो गया।' (पृ. 126) लेखक के अनुसार इसे विवेकानंद और गाँधी के बीच महत्त्वपूर्ण भिन्नता के रूप में रेखांकित किया जाना चाहिए, क्योंकि गाँधी पाश्चात्य संस्कृति और उसके मशीनों पर आधारित औद्योगिक विकास के खोखलेपन को भलीभाँति समझ चुके थे, और उन्होंने पश्चिम से किसी विनिमय की वकालत नहीं की। यद्यपि गाँधी ने 'दरिद्रनारायण' शब्द और दरिद्रनारायण की सेवा विवेकानंद से ही लिया, लेकिन गहरे वैचारिक मतभेदों के होते हुए लेखक द्वारा अंत में दिनकर की पंक्तियों का उल्लेख— 'जिस स्वप्न के कवि विवेकानंद थे, गाँधी और जवाहरलाल उसके इंजीनियर हुए' (पृ. 128), कुछ अंतर्विरोधी सा लगता है।

पुस्तक में एक अध्याय रवींद्रनाथ और गाँधी के ईश्वर संबंधी विचारों के तुलनात्मक अध्ययन को समर्पित है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में गुरुदेव और राजनीतिक इतिहास में महात्मा को जो स्थान प्राप्त है, वह अन्य किसी को नहीं। उनके चिंतन में समानताएँ और असमानताएँ, दोनों हैं। यही बात हम उनके ईश्वर संबंधी विचारों में भी देख सकते हैं, जिसका स्पष्ट विवेचन लेखक ने इस अध्याय में किया है। दोनों ही सगुण ईश्वर में विश्वास करते हैं और दोनों के लिए ही ईश्वर बुद्धिगम्य न होकर अनुभवगम्य है। मनुष्य इसके बाद ही मुक्त हो सकता है। दोनों में अंतर इस बात का है कि जहाँ रवींद्रनाथ का ईश्वर सौन्दर्य और प्रेमरूप है, वहीं गाँधी का ईश्वर सत्यरूप है। ईश्वर को सर्वस्वीकार्य बनाने के लिए जिस तरह गाँधी 'सत्य ईश्वर है' की स्थापना देते हैं, उस तरह की कोई स्थापना 'सौंदर्य ईश्वर है' या 'प्रेम ईश्वर है' रवींद्रनाथ नहीं देते। इस अंतर के बावजूद, लेखक के मतानुसार, दोनों ही

भारतीय दार्शनिक परम्परा को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। यहीं यह प्रश्न उठता है कि लेखक जब स्वयं गाँधी को तकनीकी अर्थ में दार्शनिक स्वीकार नहीं करते और रवींद्रनाथ की प्रतिभा का मुख्य कार्यक्षेत्र सभी की दृष्टि में, साहित्य है, तो फिर उनसे ईश्वर संबंधी दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में कोई विशिष्ट गम्भीर अवदान की अपेक्षा करना क्या न्याय संगत है? राष्ट्रवाद व अन्य मुद्दों पर टैगोर और गाँधी के मध्य लम्बा पत्राचार हुआ है, जो आज भी महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने यदि उन मतभेदों को भी चर्चा का विषय बनाया होता तो शायद यह ज़्यादा प्रासंगिक होता।

अंतिम अध्याय श्री अरविंद और गाँधी के शिक्षा दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन पर केंद्रित है। अरविंद प्रारम्भ के थोड़े दिनों की राजनीतिक सक्रियता के बाद ताउम्र राजनीति से दूर रहे, जबकि गाँधी आजीवन राजनीति में सक्रिय रहे। लेखक के अनुसार इसे सतही भिन्नता के बजाय तलीय समानता के रूप में समझा जाना चाहिए क्योंकि उनके उद्देश्य समान है, केवल साधनों में ही भेद है। अरविंद के अनुसार नया विश्व तब अस्तित्व में आएगा जब मनुष्य मानस की स्थिति से अति-मानस की स्थिति में पहुँचेगा। इसके विपरीत गाँधी का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने आप को सुधार ले, तो पृथ्वी स्वमेव स्वर्ग बन जाएगी। रामधारी सिंह दिनकर ने इसे ही 'स्वर्ग का भूमीकरण' और 'भूमि का स्वर्गीकरण' की संज्ञा दी है। दोनों के दृष्टिकोणों में यह अंतर, कई समानताओं के बावजूद, उनके शिक्षा संबंधी विचारों में महत्त्वपूर्ण भिन्नताओं को जन्म देता है। अरविंद जहाँ आंतरिक आत्म-विकास को शिक्षा का मूल उद्देश्य मानते हुए इस विकास के द्वारा अति मानसिक चेतना तक विकसित होकर दिव्य बन जाने की बात करते हैं, वहीं गाँधी इस तरह की कोई बात न करके चरित्र-निर्माण को शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व मानते हैं, और इंद्रियों के नियंत्रण पर अत्यधिक बल देते हैं। जिस प्रकार शिक्षा के साथ शारीरिक श्रम को जोड़कर गाँधी बुनियादी शिक्षा की बात करते हैं, वैसी कोई चर्चा अरविंद नहीं करते। इसी तरह, गाँधी प्रौढ़ और स्वावलम्बी शिक्षा की बात भी करते हैं, अरविंद नहीं। अपने विवेचन के आधार पर लेखक निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'श्री अरविंद का शिक्षा-दर्शन अत्यधिक आध्यात्मिक है जबकि गाँधी का शिक्षा-दर्शन अत्यधिक व्यावहारिक।' (पृ. 151) फिर भी उनका यह अंतिम निर्णय कि ये भिन्नताएँ सतही और प्रविधिक हैं, शायद बहुतों को गले नहीं उतरेगा क्योंकि जहाँ अरविंद प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा के ही एक प्रतिनिधि के रूप में सामने आते हैं, वहीं गाँधी एक नयी नैतिक परम्परा का सृजन करते प्रतीत होते हैं। इससे व्यावहारिक जीवन में बहुत अंतर आ जाता है। अरविंद भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से पलायन कर गये जबकि गाँधी आजीवन संघर्ष करते रहे और अंत में विजयी हुए।

अंत में, कहना होगा कि गाँधी को एक व्यावहारिक दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करने का जो बीड़ा सरोज कुमार वर्मा ने पुस्तक के प्रारम्भ में उठाया था, उसमें वे सफल रहे हैं। गाँधी द्वारा वर्तमान और भविष्य की चुनौतियों के लिए सुझाए हल से हम भले ही असहमत/आंशिक रूप में सहमत हों, लेकिन इस पुस्तक के लेखों के माध्यम से उस पर गहराई से विचार करने के लिए हम लेखक से सहमत हैं। यदि पुस्तक के प्रथम खण्ड में धार्मिक राष्ट्रवाद पर भी किसी लेख में विचार किया जाता तो यह रचना और पूर्ण होती। यह अगले संस्करण में जोड़ा जा सकता है। चूँकि लेखक रजनीश के दर्शन के भी गम्भीर अध्येता हैं, अत: उन्हें भी गाँधी के साथ तुलनात्मक खण्ड में रखा जा सकता था। पिछले दिनों गाँधी पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, लेकिन आज की चुनौतियों के बरअक्स गाँधी-दर्शन को इतनी सरल, सहज और प्रवाहपूर्ण हिंदी में समझने-समझाने का प्रयास करने वाली पुस्तकें विरल हैं। इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए लेखक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं। लेकिन, अब समय आ गया है कि हम *हिंद स्वराज* से आगे जा कर भी सोचने की चुनौती स्वीकार करें। क्या गाँधी यदि आज जीवित होते तो *हिंद स्वराज* का नया संस्करण नहीं रचते?

सामयिक विमर्श

जंगल की हक़दारी

राजनीति और संघर्ष

कमल नयन चौबे

कमल नयन चौबे की इस सामयिक और महत्त्वपूर्ण कृति में वन अधिकार क़ानून बनने और लागू होने का व्यापक विवरण पहली बार पेश किया गया है। कमल उस संदर्भ का परिष्कृत विश्लेषण करते हैं जिसके तहत हमें यह क़ानून समझना चाहिए। उन्होंने इस क़ानून से जुड़े कुछ अहम सवालों की गहराई से विवेचना की है। कमल के तर्क महज़ सैद्धांतिक नहीं हैं। कई जगह वे गहन अनुभवसिद्ध शोध पर आधारित हैं। दरअसल उनकी यह रचना बहु-स्थानिक अनुसंधान का बेहतरीन उदाहरण है।